इकाई 10 वंशावलियाँ तथा पारिवारिक इतिहास*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 पश्चिम भारत की वंशावली परम्पराएँः *चारण, भाट* तथा *वहीवांचा बारोत*

10.3 बंगाल के *कुलग्रंथ*

10.3.1 *कुलग्रंथः* अतीत की परिकल्पना

10.3.2 *कुलग्रंथों* में ऐतिहासिकता की समस्या

10.4 कुमाऊँ वंशावलियाँः *वंशावली/पुस्तनामा*

10.4.1 शासक परिवार की वंशावलियाँ

10.4.2 विशिष्ट ब्राह्मण वंशों की वंशावलियाँ

10.5 *तीर्थ* वंशावलियाँ

10.6 पारिवारिक दस्तावेज़

10.7 सारांश

10.8 शब्दावली

10.9 बोध प्रश्नों का उत्तर

10.10 संदर्भ ग्रंथ

10.11 शैक्षणिक वीडियो

10.0 उद्देश्य

यह इकाई भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में प्रचलन में रही वंशावलियों के अंकन तथा पारिवारिक इतिहासों की परम्परा, और किस प्रकार ये परम्पराएँ पूर्व-आधुनिक भारत में अतीत-संबंधी दृष्टिकोण से जुड़ी हुईं थीं, और साथ ही इतिहास के निर्माण में इनके महत्व पर केंद्रित है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सक्षम होंगेः

- वंशावलियों के अंकन की विभिन्न प्रकार की परम्पराओं का परिचय पाने में,
- इतिहास के निर्माण में इनके महत्व को समझने में,
- इन वंशावलियों को रचने, संग्रहित तथा संकलित करने की रीतियों का विश्लेषण करने में,
- इस प्रकार के अंकनों के उद्देश्य का मूल्यांकन करने में, और
- इनमें अंतर्बद्ध ऐतिहासिक चेतना का मूल्यांकन करने में।

10.1 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज के अतीत को याद रखने के अपने तरीके होते हैं। पिछली इकाइयों में प्रारंभिक ऐतिहासिक भारत में प्रचलित तथा पायी जाने वाली, अतीत को स्मरण करने और दर्ज करने की, इनमें से कुछ रीतियों के विषय में आप पढ़ चुके हैं। विभिन्न कालों तथा विभिन्न संस्कृतियों में लोग परिवर्तन तथा निरंतरता के अपने अनुभव से अर्थ ग्रहण करते हैं। कुछ मानवविज्ञानी अध्ययनों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि ऐतिहासिक चेतना इस अर्थ में एक सामान्य या सार्वभौमिक मानव क्षमता है कि यह सभी मानव समाजों की समय से अर्थ ग्रहण करने की आधारभूत विशेषता है (नॉर्ग्रेन 2019ः 780)। अतः,

* श्री जितेश कुमार जोशी, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

यहाँ हम यह देखेंगे कि इस अध्याय में जिन वंशावली परम्पराओं की चर्चा की गई है, वे किस तरह ऐतिहासिक चेतना का प्रदर्शन करती हैं और उनमें अतीत को किस प्रकार देखा गया है। यहाँ हम उस प्रक्रिया पर भी नज़र डालने की कोशिश करेंगे जिसे सुमित गुहा 'वंशावली, प्रशस्तिपूर्ण संत जीवनचरित, तथा धार्मिक व धर्मनिरपेक्ष दोनों प्रकार के स्थानों पर स्मारकों की स्थापना की रीतियों के माध्यम से स्मृति का नियंत्रण तथा संरचनाबद्ध किया जाना' कहते हैं (गुहा, 2019ः प्रस्तावना)। बहरहाल, यहाँ हम भारतीय उपमहाद्वीप में प्रचलित केवल कुछ वंशावली परम्पराओं की ही चर्चा करेंगे।

इस इकाई में हम विशिष्ट विस्तारित परिवारों या वंशों से संबंध रखने वाली वंशावली परम्पराओं की चर्चा करेंगे। ये परम्पराएँ अपनी प्रकृति, स्वरूप तथा उद्देश्यों के संबंध में पौराणिक वंशवालियों तथा अभिलेखों में उत्कीर्ण राज-वंशावलियों से भिन्नता रखती हैं। यहाँ हम राजस्थान तथा गुजरात में प्रचलित ***चारण*** और ***भाट*** परम्परा पर दृष्टि डालेंगे।

अन्य भाग में हम बंगाल के ***कुलग्रंथों*** की चर्चा करेंगे। वहीं एक अन्य भाग कुमाऊँ की वंशवालियों पर केंद्रित रहेगा। इस तरह की वंशवालियों को गाँव के स्तर पर संकलित तथा संग्रहित किया गया है और अधिकांशतः इनमें किसी एक परिवार या वंश-विशेष की शाखाओं तथा उप-शाखाओं का वर्णन किया गया है जो एक समान पुरुष पूर्वज से स्वयं की उत्पत्ति मानते हैं। इस तरह की वंशावलियाँ उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में पायी जाती हैं तथा इनका संबंध ब्राह्मण या कायस्थ जैसे साक्षर वर्गों/जातियों से रहा है।

अन्य भाग में हम *तीर्थ* वंशवालियों पर ध्यान देंगे। इन वंशावलियों को भारत के विभिन्न तीर्थ-केंद्रों में ब्राह्मण *पंडों* द्वारा दर्ज किया जाता है तथा सुरक्षित रखा जाता है। हरिद्वार, कुरुक्षेत्र तथा पुरी वे सबसे ख्यात क्षेत्र हैं जहाँ हम इस तरह की परम्परा को सुरक्षित पाते हैं। अंतिम भाग, संक्षेप में, ऐसे दस्तावेज़ों की चर्चा करता है जो किसी परिवार-विशेष की विरासत का हिस्सा रहे हैं, विशेष रूप से हम पश्चिमी भारत के **हरि-भक्ति दस्तावेज़ों** की निर्माण-प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे। इन परंपराओं की चर्चा तथा परीक्षण से हम इन पूर्व-आधुनिक परम्पराओं में निहित अतीत के विचार को समझ सकते हैं।

10.2 पश्चिमी भारत की वंशावली परम्पराएँ: *चारण, भाट* तथा *वहीवांचा बारोत*

राजस्थान के मध्यकाल के अध्ययन में वंशावलियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस क्षेत्र में पेशेवर वंशावली तैयार करने वालों के विशेष समुदाय थे, जिन्हें *चारण/भाट* कहा जाता था। मध्य तथा उत्तर गुजरात में भाटों के समूह से वंशावली रचने वालों के एक विशेष समुदाय का उदय हुआ जिसे ***वहीवांचा बारोत*** के नाम से जाना जाता था।

वहीवांचा बारोत लिखित रूप में अपने दस्तावेज़ों को रखते थे। शाब्दिक रूप से *वहीवांचा* का तात्पर्य *बही/वही* को बांचने या पढ़ने वालों से है। शाह तथा श्रॉफ़ (1984) द्वारा देखी गई सबसे पुरानी बही 1740 सी ई से संबंध रखती है, लेकिन उन्हें ऐसी वंशावली भी प्राप्त हुई थीं जो 1234 सी ई जितनी पुरानी घटनाओं को दर्ज करती हैं। लेकिन इस दस्तावेज़ की भाषा से यह स्पष्ट है कि इसे बाद के समय में लिखा गया था। यह वंशावली काल्पनिक प्रतीत नहीं होती है क्योंकि इसकी जानकारियों की पुष्टि उस गाँव में मिले अभिलेखों से की जा सकती है। अगर यह जानकारी मानी जाए तो *वहीवांचा* के दस्तावेज़ ये भी बताते हैं कि उनके वर्तमान संरक्षकों के बीच पुश्तैनी संपत्ति किस प्रकार बँटी हुई है। कभी-कभी भूमि के क्रय-विक्रय तथा घरों के मालिकाने की जानकारी भी ये विशेषज्ञ दर्ज करते हैं। अपने संरक्षकों के परिवारों के सदस्यों के जीवन की प्रमुख घटनाओं को भी दर्ज करने के लिए इन्हें महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस प्रकार कुछ बहियों में उन व्यक्तियों के बारे में जानकारी मिलती है, जिन्होंने 1857 के विद्रोह में भाग लिया। अन्य घटनाएँ जिन्हें दर्ज किए जाने के योग्य माना गया था, उनमें किसी पूर्वज की मृत्यु, सशस्त्र डकैतों के साथ हुई कोई झड़प, अपने गाँव या जाति को दिया गया कोई विशाल भोज, किसी पूर्वज को राजा द्वारा दिया गया सम्मान या किसी पुरखे द्वारा गृह जीवन का त्याग कर संन्यास ग्रहण करना, इत्यादि शामिल हैं। महमूद बेगड़ा के शासनकाल में इस्लाम में धर्मांतरण के संदर्भ भी इसमें मिलते हैं। यह वंशावली स्पष्ट तौर पर दर्शाती है कि कौन

पूर्वज मुस्लिम बन गया और कौन हिंदू बना रहा। *वहीवांचा* की बहियाँ इस प्रकार अपने संरक्षकों के सामाजिक संस्थानों तथा मूल्यों के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराती हैं।

जानकार *चारण*, राजपूत समाज के गाथा-कार और कवि थे, जिनका अपने संरक्षक राजपूत वंश से आनुवांशिक संबंध होता था। *चारण* विशेष अवसरों पर अपने संरक्षक-परिवारों द्वारा बुलाए जाने पर गीतों तथा गाथाओं का पाठ करते थे। इन आख्यानात्मक गीतों को *बात* या *वात* या *वातम* कहते थे। जहाँ अधिकतर *चारण* अपने अन्य प्राथमिक काम-काज के साथ इस गाथा-गान के कविकर्म को एक अधीनस्थ द्वितीयक कार्य के रूप में ही करते थे, वहीं कुछ अन्य थे जो पूर्णकालिक पेशेवरों ने रूप में स्वयं को गाथा और काव्य की कलाओं में पारंगत बना लेते थे। वे शक्तिशाली वंशों तथा परिवारों का संरक्षण पाने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करते थे और उनमें से कुछ ने दरबारी कवियों के पद को भी प्राप्त किया था। इस परम्परा से जुड़ा हुआ अन्य समुदाय *भाटों* का था, ये विशेषज्ञ *पीढ़ियावलियों* (पीढ़ियों की श्रृंखला) की रचना करते थे। *भाट* (संस्कृत भट्ट से) शब्द का अर्थ मूल रूप से 'प्रार्थनाओं, प्रशस्तियों और मंगलाचरण के जानकार' से होता था किंतु यह बाद में वंशावलियों के विशिष्ट ज्ञान रखने वालों का संकेत करने लगा। प्रत्येक जाति का अपना *भाट* था, जिन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता था, जो इस पर आधारित होता था कि वे किस जाति की सेवा में लगे हुए हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों को सेवा देने वाले *भाटों* को *वर्वा* कहा जाता था। इन वंशावलियों को विस्तृत *बहियों* में लिखा जाता था, और ये *भाटों* की ही संपत्ति समझी जाती थीं। इन्हें निश्चित अवसरों पर बांचा जाता था, जब जन्म, मृत्यु, विवाह, इत्यादि को *बहियों* में दर्ज करना होता था।

इसी तरह की अन्य वंश-आधारित परम्परा ***वंशावलियाँ*** थीं, जिन्हें परिवारों द्वारा स्वयं के पास रखा जाता था और ये उन्हीं की संपत्ति होती थीं। परम्परागत रूप से इन्हें उन वंशावली विशेषज्ञों द्वारा व्यवस्थित किया जाता था जो घरों पर आकर इनमें नई प्रविष्टियाँ करते थे। इस तरह की सुरक्षित रह गई *वंशावलियाँ* कुछ प्रमुख परिवारों के पास ही उपलब्ध हैं, जैसे स्थानीय शासक तथा महत्वपूर्ण *ज़मींदार* परिवार। *पीढ़ियावलियों* की तुलना में *वंशावली* अधिक विस्तृत स्वरूप की हैं। अपने कथित संस्थापक या किसी विशिष्ट शाखा के निकटस्थ संस्थापक तक की पीढ़ियों के नामों को अंकित करने के साथ ही उस कुटुंब के सदस्यों के समयों में घटित प्रमुख घटनाओं का उल्लेख भी इनमें मिलता है। ये विवरण, अधिक दूर के पूर्वजों के साहसिक कार्यों की मौखिक परंपराओं को तथा भूमि अनुदानों की जानकारी के साथ उनके संक्षिप्त जीवन-चरित, और निकट अतीत के सदस्यों द्वारा स्थानीय शासक की सेवा में लड़े गए युद्ध या उसे प्रदान की गई सेवा को लिखित गद्य स्वरूप में प्रस्तुत करते हैं। *पीढ़ियावली* तथा *वंशावली* दोनों ही लिखित स्वरूप की होती हैं, उनके मौखिक प्रतिरूप, यद्यपि, अब भी राजस्थान के गांवों में राजपूत परिवारों की विभिन्न सेवादार जातियों द्वारा सुरक्षित रखे गए हैं।

वंशवाली परंपराओं का क्रमिक विकास तथा मध्यकालीन समाजों में इनकी भूमिका

बाद के काल में ये *पीढ़ियावली* या *वंशावलियाँ*, *ख्यात* और *विगत* साहित्य में शामिल कर ली गईं। राजस्थान की सबसे पुरानी उपलब्ध *ख्यात*, सत्रहवीं शताब्दी की *नैणसी री ख्यात*, सारतः *बातम* कथाओं और *वंशावलियों* का एक संग्रह है जो राजस्थान के सभी प्रमुख राजपूत राजवंशों, और इनमें कुछ कम महत्वपूर्ण वंश भी शामिल हैं, पर विचार करती हैं, जिन्हें विशेष *वंशों* या *कुलों* के आधार पर अलग-अलग खंडों में व्यवस्थित किया गया है। प्रत्येक भाग की कथाएँ तथा *वंशावलियाँ* किसी वंश की उत्पत्ति तथा इतिहास, उसके पुरुष संस्थापक पूर्वज से लेकर इन परंपराओं को 1648 से 1666 के बीच में *ख्यात* में लिखित रूप में शामिल करने तक के समय, पर विचार करती हैं। जहाँ उपर्युक्त प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री का वर्तमान में उपलब्ध सबसे आरम्भिक उदाहरण राजस्थान में 17वीं शताब्दी से संबंध रखता है, वहीं राजस्थानी विद्वानों में यह सहमति है कि 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 13वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही महत्वपूर्ण घटनाओं को सुरक्षित रखने की (सामान्यतः *चारण* काव्य के रूप में) और राजपरिवारों के वंशवृत्तों को *वंशावलियों* के रूप में व्यवस्थित रखने की सुविकसित क्षेत्रीय परम्परा अस्तित्व में थी। 15वीं शताब्दी के आगमन के साथ डिंगल भाषा में लिखी हुई *बातम* विविध स्वरूपों में प्रथम बार सामने आने लगीं जो अपने पूर्ववर्ती संस्कृत आदर्शों पर आधारित थीं।

प्रमुख राजस्थानी विद्वान यह तर्क देते हैं कि लिखित वंशात्मक इतिहास का विकास मुग़ल प्रभाव के कारण हुआ था लेकिन यह तर्क उस सामाजिक-राजनीतिक परिवेश को अनदेखा करता है जिसने

प्रारंभिक रूप से इस प्रकार के साहित्य को जन्म दिया था (ज़िग्लर 1976)। ज़िग्लर का तर्क है कि इस तरह के साहित्य का विकास आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के दबावों के फलस्वरूप शुरू हुआ था। पूर्वजों की परम्परा को मुग़लों द्वारा दिए गए विशेष महत्व को देखते हुए एक सुस्थापित पूर्वज परम्परा मुग़ल दरबार में अनुग्रह तथा पद पाने हेतु एक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक युक्ति थी। इसके साथ ही स्थानीय क्षेत्र पर नियंत्रण बनाए रखने की चिंता तथा राजस्थान के भीतर के क्षेत्रों में सत्ता की वैधता के दावे अधिक आधारभूत तत्व थे जिन्होंने इन इतिवृत्तांतों के लेखन को प्रभावित किया। इस प्रकार इन इतिवृत्तांतों ने स्थानीय स्तर पर राजपूतों के बीच प्रतिष्ठा और स्थिति के दावों का औचित्य सिद्ध करने और बाहरी सत्ता के सम्मुख साक्ष्य प्रस्तुत करने हेतु एक सामूहिक तथा संगठित परम्परा के निकाय के रूप में दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति की। इसी प्रकार *बारोत* अपने कार्य के माध्यम से स्थानीय वंशों और कुलों को क्षेत्रीय, यदि अखिल भारतीय स्तर के मिथकों और इतिहास के साथ नहीं भी तो, संपर्क में लाए। ये वंश तथा कुल स्वयं का स्थान स्थानीय पदानुक्रम में ऊँचा उठाने को लेकर चिंतित थे और *बारोतों* की बहियों में दर्ज किए गए इतिहास और मिथकों ने उनके इस उत्थान में उन्हें सहायता पहुँचाई (शाह और श्रॉफ़ 1984)।

जैसा कि आप भारतीय ऐतिहासिक परंपराओं में गुथे हुए उपदेशात्मक दृष्टिकोण के विषय में **इकाई 2** और **इकाई 6** में पढ़ चुके हैं, इन परंपराओं से भी ऐसी ही आशा की जाती थी। ये ऐसा माध्यम थीं जिनसे युवा राजपूतों को 'अपने परिवारों, वंशों और गोत्रों के इतिहास से परिचित कराया जाता था; अपने पूर्वजों के नैतिक मूल्यों में शिक्षित किया जाता था; और भविष्य में अपनी सामाजिक भूमिकाओं के लिए प्रशिक्षित किया जाता था' (ज़िग्लर 1976)। तथ्यों और कालानुक्रम पर बल देना *चारणों* और मध्यकालीन राजस्थानी समाज में उनकी भूमिका को समझने में सहायक नहीं होगा, हमें इन परंपरागत जानकारों को एक मनीषी के रूप में, कथाओं के संरक्षक और परंपराओं के आश्रयदाता के रूप में देखना होगा, जिस सत्य का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उसका संबंध तथ्यात्मक रूप से वस्तुनिष्ठ होने से कम ही हैं, बल्कि मनुष्य के जीवन में प्रसन्नता और संपूर्णता प्राप्त करने के माध्यम के रूप में धार्मिक मूल्यों और सामाजिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करने से अधिक हैं। मध्यकालीन राजस्थानी समाज में *चारण* और *भाटों* को ब्राह्मणों के ठीक नीचे और राजपूतों के ऊपर स्थान दिया गया था, इस प्रकार उन्हें नैतिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों के संरक्षकों के रूप में भी देखा जाता था। उन्होंने राजपूतों की प्रतिष्ठा और ज़मीन पर अधिकारों, विजयों, अनुदान तथा विरासत की रक्षा हेतु राजपूतों के व्यापक राजनीतिक हितों की पूर्ति की और वंश के आधार पर उनकी वैधता और प्रतिष्ठा के दावों का अर्थ साबित किया।

इन परंपराओं की प्रमाणिकता का विश्लेषण करते हुए कुछ आधारभूत बातें हैं जिनका ध्यान रखना चाहिएः

1) *बातम* तथा *पीढ़ियावली* दोनों ही व्यक्तिगत साक्ष्य के आधार पर रची जाती थीं, अर्थात इसके अंतःतत्वों के निर्धारण में इसके वाचक की महत्वपूर्ण या केंद्रीय भूमिका थी; इनके पाठ के ऊपर नियंत्रण रखने का एकमात्र तरीका सामाजिक दबाव का था, उपहास के माध्यम से या रचनाकारों को दिए जाने वाले उपहार या अनुदानों को रोकने के अलावा संरक्षक परिवारों के पास एक अन्य विकल्प किसी अन्य *चारण* और *भाट* को सेवा में रख लेना था।

2) सामान्यतः *चारण* साहित्य अतिशयोक्तिपरक और कल्पनात्मक रूप लिए होता था।

3) बदलते सांस्कृतिक मूल्य भी इन परंपराओं को प्रभावित करते थे, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का प्रभाव उन *राठौड़ वंशावलियों* में देखा जा सकता है जो तेरहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक पूर्वजों का ब्योरा दर्ज करती हैं। इसमें नामों और उनके क्रम को लेकर एक स्पष्ट विसंगति देखने को मिलती है और इनमें से अधिकांश राजाओं की सूची बाद के समय में बढ़ते ज्येष्ठाधिकार पर दिए जाने वाले बल से प्रभावित नज़र आती है।

4) वंशावलियों को सुरक्षित रखने के तरीके के कारण संक्षिप्तीकरण की समस्या सामने आती है, जैसा कि किसी *भाट* की मृत्यु के बाद सबसे बड़े पुत्र को उसकी अधिकांश *बहियाँ* मिलती थीं और किसी विशेष वंशावली के शुरुआती भागों की नक़ल तैयार करते हुए वे शुरुआती सामग्री को संक्षिप्त कर देते थे या सार रूप में ही लिखते थे। अधिकांश वंशावलियों में बड़े पुत्रों या परिवार

के महत्वपूर्ण सदस्यों के विषय में ही अधिक जानकारी मिलती है। 15वीं शताब्दी के बाद के समय से संबंध रखने वाली सामग्री अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है।

बोध प्रश्न-1

1) संक्षेप में *वहीवांचा बारोत* की परम्परा की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

2) मध्यकालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में राजस्थान की वंशावली परम्पराओं ने क्या भूमिका निभायी है?

....

....

....

3) *चारण, भाट* तथा *वहीवांचा बारोत* एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं?

....

....

....

10.3 बंगाल के *कुलग्रंथ*

अन्य परम्परा जिसकी हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उसका संबंध बंगाल से है। इस परम्परागत वंशावली. सामग्री को ***कुलग्रंथ***, *कुलपंजिका* या ***कुलजी*** के रूप में जाना जाता है। *कुल* शब्द परिवार या वंश अर्थात् विस्तारित कुटुंब का संकेत करता है, *ग्रंथ* का मतलब पुस्तक से है, *पंजी* या *पंजिका* का प्रयोग बहियों के लिए होता है। अतः ये इस तरह की पुस्तिकाएँ थीं जिनमें कुलों या वंशों के अनुक्रम लिखे जाते थे। बंगाल के संबंध में *कुल, वर्ण/जाति* व्यवस्था के भीतर अभिजात्य स्तर से संबंधित होने के विचार को भी व्यक्त करता था। यह परम्परा ब्राह्मणीय *कुलवाद* या *कुल-बिधि* की विचारधारा के इर्द-गिर्द संगठित थी।

यह माना जाता है कि *कुलग्रंथ* पहली बार नौवीं/दसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आए और आने वाली शताब्दियों में उनकी पुनर्रचना जारी रही, उन्नीसवीं के आखिर तक या संभवतः आरंभिक बीसवीं शताब्दी तक। आर. सी. मजूमदार तथा इंडेन जैसे विद्वानों के अनुसार, आधुनिक विद्वानों को बीसवीं शताब्दी में उपलब्ध अधिकांश *कुलजियाँ* पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी से अधिक पुरानी नहीं हैं (चटर्जी 2005: 178)। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में राम राम बासु और मृत्युंजय विद्यालंकार की कृतियाँ जो क्रमशः 1801/1802 तथा 1808 में प्रकाशित हुई थीं, स्पष्ट रूप से इन परम्पराओं में समाहित सामाजिक स्मृति पर आधारित थीं। कथाओं, कविताओं तथा किंवदंतियों का यह भंडार वंशावलीविद-सह-वैवाहिक मध्यस्थों के द्वारा रचित थीं। ये *कुलजियाँ* संस्कृत तथा बांग्ला, दोनों, भाषाओं रची गई हैं। जहाँ अधिकांश मौखिक रचनाएँ बांग्ला में हैं, लिखित परम्परा ने समान महत्व के साथ दोनों भाषाओं का इस्तेमाल किया है। इस संतुलनकारी उपाय से जहाँ एक ओर संस्कृत के प्रयोग के माध्यम से *कुलग्रंथों* के लिए शास्त्रीय आभा, वैधता और औपचारिक स्वरूप का दावा करना संभव हुआ तो दूसरी ओर बांग्ला के प्रयोग ने *कुलग्रंथों* की व्यापक समुदाय तक पहुँच संभव बनाई।

10.3.1 *कुलग्रंथ:* अतीत की परिकल्पना

कुमकुम चटर्जी के अनुसार इन वंशावलियों ने अपने पात्रों, 'चाहे वे कोई कुल हों या कोई राजवंश, की कालगत दीर्घजीविता का स्पष्ट संकेत किया और अतीत के ऐतिहासिक चरित्रों तथा घटनाओं के वर्तमान के साथ परिकल्पित संबंध को इतिहास के एक निरंतर प्रवाह के रूप में देखना संभव बनाया'। उनका यह भी मानना है कि '*कुलजियों* ने अपने प्रकार्य के रूप में प्राक्-आधुनिक बंगाली समाज को अतीत के संबंध में कालानुक्रमिक दृष्टि प्रदान की तथा जाति-आधारित समाज को उत्पत्ति, क्रमिक

विकास और सामूहिक निरंतरता का बोध कराया। इस अर्थ में *कुलजी* उसके अत्यंत निकट बैठती हैं जिसे *इतिहास* से प्राप्त करने की आशा की जाती है, अर्थात्, आत्मोन्नयन, मनोरंजन और शिक्षाओं के उद्देश्य से अतीत का बोध कराना।' इस प्रकार *कुलजियाँ* यह समझने में सहायक हो सकती हैं कि कैसे मध्यकालीन बंगाल में कुछ सामाजिक तबकों ने अपने आस-पास घटित घटनाओं तथा परिवर्तनों को परिकल्पित किया। ये *कुलजियाँ* आधारभूत रूप से यह समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं:

- **मध्यकालीन बंगाल के कई महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थानों का संघटन तथा क्रमिक विकास**

इन *कुलजियों* में उत्पत्ति की कथा स्वयं को पीछे किसी मिथकीय व्यक्तित्व राजा आदिसूर तक ले जाती है, जिसने बंगाल में सामाजिक शुद्धिकरण की प्रक्रिया की शुरुआत की, उत्तर भारत के कन्नौज से बंगाल में आप्रवासन हेतु आनुष्ठानिक और आध्यात्मिक रूप से शुद्धतर पाँच ब्राह्मणों को निमंत्रित कर, जिनके साथ पाँच मूल कन्नौजिया कायस्थ परिवार भी आए। इन आख्यानों में अन्य प्रभावी दो राजपुरूष, सेन वंश के राजा बल्लाल सेन तथा लक्ष्मण सेन थे। बल्लाल सेन को ब्राह्मणों के साथ-साथ कायस्थों के कुछ कुलों को उच्च सामाजिक स्थिति प्रदान कर *कुल-बिधि* की व्यवस्था स्थापित करने वाले के रूप में याद रखा गया है। ये उच्च स्थिति प्राप्त कुल कन्नौजिया आप्रवासियों के वंशज माने जाते थे और इन्हें अपने गुणों और रीतियों में शुद्धतर और उच्चतर माना गया था। इन *कुलजियों* में नौ विशिष्ट गुणों को परिभाषित किया गया है जो कुलीन की स्थिति पाने के लिए आवश्यक माने जाते थे (*नवधा कुल लक्षणम्*)।

इन *कुलग्रंथों* का व्यवस्थापूर्ण क्रमिक विकास बल्लाल सेन और लक्ष्मण सेन द्वारा *कुलवाद* या *कुल-बिधि* या *कुल-मर्यादा* की संस्था की स्थापना के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। इन शासकों ने सुशिक्षित व्यक्तियों को *कुलाचार्य* के पदों पर नियुक्त किया और ये सुशिक्षित व्यक्ति विभिन्न कुलीन वंशों की विस्तृत वंशावली पंजिकाओं की रचना, निर्माण और संरक्षण के लिए उत्तरदायी थे। इसका उद्देश्य इन वंशों के आदर्श सामाजिक व्यवहार की सामाजिक तथा सामुदायिक स्मृति को बनाए रखना तथा उसे पुनः शक्ति प्रदान करना था। इस प्रकार ये परम्पराएँ स्मृति साहित्य की संपूरक थीं। '*कुलाचार्य*, जिन्हें घटक के रूप में भी जाना जाता था, विभिन्न कुलीन समुदायों के इतिवृत्तकार और अभिलेखकों के रूप में कार्य करते थे और इन समुदायों के भीतर इन्होंने प्रधानों की स्थिति भी हासिल कर ली थी। इनके हाथों में वंशावली सामग्री का संकलन कार्य इतना व्यवस्थित रूप ले चुका था कि इसे एक अनुशासन या शास्त्र अर्थात् *कुलशास्त्र* कहा जाने लगा'(चटर्जी 2005: 176)।

- **राजतंत्र और जाति-आधारित सामाजिक संस्थानों के बीच अंतःक्रिया**

ऐसे तीन तत्व थे, जिन्होंने साथ में मिलकर बदलते समय की आवश्यकताओं के हिसाब से इन परंपराओं को पुनः समायोजित किया और नवीन स्वरूप प्रदान किया। स्थानीय मुखिया या राजा *ज़मींदार*, *कुलाचार्य/घटक* और *जाति*-आधारित *समाज* या *गोष्ठी* की इन परंपराओं की पुनर्रचना करने तथा इनको नए मूल्य प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका थी।

कुलजियों द्वारा उन विशेष *जातियों* या कुलों के साथ सामाजिक अंतःक्रिया या वैवाहिक संबंधों की निंदा की जाती थी जो उनके लिए निर्दिष्ट सामाजिक अंतःक्रियाओं के नियमों को खंडित करने वाले माने जाते थे।

'ब्राह्मणवाद को उपलब्ध महत्वपूर्ण युक्तियों में से एक *समीकरण* या *एकजाई* जैसे सुधारों के माध्यम से अपनी आंतरिक तथा बाह्य मर्यादाओं का निरंतर निरीक्षण करना था' (चटर्जी 2005: 192)। बल्लाल सेन प्रथम व्यक्ति था जिसने *कुल-मर्यादा* के आदर्शों को संरक्षित करने के लिए सुधार किए। बाद में, प्रख्यात बारेंद्र ब्राह्मण *कुलगुरु* उदयनाचार्य भादुड़ी, जिसे राजा गणेश या श्री गणेश दत्त ख़ान के काल (शासनकाल 1418 सी ई तक) से संबंधित माना जाता है, ने ऐसे ही अन्य सुधारों को लागू किया। चूँकि इन उच्चस्थ बारेंद्र ब्राह्मणों में से बहुतों ने प्रचलित मुस्लिम अभिजात्य संस्कृति को अपनाना और व्यवहार में लाना शुरू किया और साथ ही अपने नाम के साथ ख़ान की उपाधि भी जोड़ने लगे, यह स्वीकृत ब्राह्मणी आदर्शों के लिए चिंता का विषय बन गया। यह अनिवार्य भौतिक सामाजिक संबंध व अंतःक्रिया कारण था कि नए सुधारों को स्थापित करना पड़ा। उदयनाचार्य भादुड़ी ने बारेंद्र ब्राह्मणों के बीच नज़र आने वाले अनिर्दिष्ट या अशुद्ध आचरणों की कोटियाँ निर्धारित कीं। दूसरा, इसके साथ

ही उन्होंने इस प्रकार के असुविधाजनक व्यवहार के लिए समाधान या *व्यवस्था* भी प्रस्तुत की। देबीबार घटक, प्रख्यात राढ़ीय कुलीन ब्राह्मणों में से एक, पंद्रहवीं शताब्दी के आखिर का एक अन्य प्रमुख सुधारक था। बांद्यघोटिया देबीबार मिश्र या देवीबार घटक के सुधारों को *मेल-बंधन* के नाम से जाना जाता है और ये कुलीन राढ़ीय ब्राह्मणों के अभिजात्य *जाति* के ब्राह्मणीय आदर्शों को पुनर्समायोजित तथा पुनर्स्थापित करने का एक प्रयास था। इसके साथ ही यह उच्च वर्गीय मुस्लिमों के साथ घनिष्ठ पेशेवर, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संपर्क के कारण सामने आए संकट की प्रतिक्रिया भी था। ऐसे ब्राह्मण समूहों में राढ़ क्षेत्र के पीर अली तथा शेर खानी समुदाय थे और पूर्वी बंगाल के श्रीमंत खानी प्रमुख थे। *कुलजियों* के अनुसार, जिन्हें *मेल-कारिका* कहा जाता है तथा हरी कबिंद्र, दानुजारी मिश्र और हरिहर भट्टाचार्य को इनके सृजन का श्रेय दिया जाता है, इन तीन समाजों ने, विशेष रूप से उच्चस्थ ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट नियमों का अतिक्रमण किया था।

देबीबार के सुधारों में विभिन्न प्रकार के दोषों को चिह्नित किया गया था, कुलीन राढ़ीय ब्राह्मणों द्वारा रची गई *मेल-कारिकाओं* में सूचीबद्ध एक प्रमुख दोष *यवन दोष* था। यह स्पष्ट है कि यह मुस्लिमों के साथ संपर्क या अंतःक्रिया का संकेत करता था, अतः स्पष्ट है कि इन *जाति*-आधारित समाजों ने स्वयं को बदलते समय के अनुरूप पुनर्परिभाषित करने की कोशिश की और इस कोशिश में *कुलग्रंथों* ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कुलग्रंथ ब्राह्मणवाद के उसके कल्पित शत्रुओं के साथ संघर्ष को प्रतिबिंबित करते हैं, बारहवीं शताब्दी से पूर्व *कुलजियों* के माध्यम से ब्राह्मणीय आदर्शों ने बौद्ध धर्म तथा गौड़ीय वैष्णव मत के विरुद्ध स्वयं को पुनर्परिभाषित और पुनः मजबूत करने का प्रयास किया। बारहवीं शताब्दी के बाद यह नए मुस्लिम शासक वर्ग के साथ सामाजिक अंतःक्रिया से उपजे संकट के कारण स्वयं को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास था।

10.3.2 *कुलग्रंथों* में ऐतिहासिकता की समस्या

इन स्रोतों द्वारा उपलब्ध सूचना की प्रामाणिकता इतिहासकारों के बीच बहस का महत्वपूर्ण विषय रही है। जब आरम्भिक बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी शैली का इतिहासलेखन सुस्थापित हो चुका था, 'और इसका अनुसरण करने वाले इन ग्रंथों की एक-दूसरे के तथा नए-नए खोजे गए अभिलेखों व स्रोतों की सापेक्ष जाँच-पड़ताल करने लगे। जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि इनमें कई अंतर्विरोधी गाथाएँ मौजूद थीं' (गुहा 2019: 82)। चटर्जी का तर्क है कि जहाँ इन परम्पराओं की ऐतिहासिकता को उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िर के तार्किक-प्रत्यक्षवाद के अर्थ में सुनिश्चित करना मुश्किल है, *कुलजी* यह समझने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं कि किस प्रकार *जाति*-आधारित विशेष सामूहिकताओं ने स्वयं को समय की प्रगति के सापेक्ष परिकल्पित किया (चटर्जी 2005)। लेकिन, हमें यह भी स्वीकारना होगा कि ये ग्रंथ सीमित समुदायों को संबोधित करते थे तथा इनका संकीर्ण सामाजिक मंतव्य था (गुहा 2019: 82)।

लेकिन, ये परम्पराएँ सामाजिक स्मृति में होने वाले संक्रमण, किसी विशिष्ट सामाजिक समूह के सामूहिक बोध को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं। चटर्जी इनमें अंतर्निहित दो महत्वपूर्ण समस्याओं को रेखांकित करती हैं:

- पाठगत अस्थिरता; यह इन ग्रंथों को निरंतर प्रतिलिपित और पुनःप्रतिलिपित करने के कारण होता है, और *कुलजियों* का मौखिक आयाम भी इन ग्रंथों के पाठ तथा भावों में परिवर्तन की सम्भावना हमेशा बनाए रखता था।
- पाठ की सरन्ध्रता; इसका तात्पर्य किसी एक ग्रंथ के हिस्सों को दूसरे ग्रंथ में इसका संज्ञान दिए बिना शामिल करने से है, जिससे किसी ग्रंथ की कोई एकल तिथि निर्धारित करना मुश्किल हो जाता है।

बोध प्रश्न-2

1) *कुलग्रंथों* से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

2) *कुलग्रंथों* के सृजन में निहित विचारधारा की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

3) इन *कुलग्रंथ* परंपराओं में सुधार या संशोधन करने का क्या उद्देश्य था?

....

....

....

4) *कुलग्रंथों* में ऐतिहासिकता की समस्या की विवेचना कीजिए।

....

....

....

10.4 कुमाऊँ वंशावलियाँः *वंशावली/पुस्तनामा*

सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र को, पूर्व में नेपाल से लेकर पश्चिम में हिमाचल तक विभिन्न परिवारों की ***वंशावलियों*** को सुरक्षित रखने के लिए जाना जाता है। यह स्पष्ट है कि कुमाऊँ में *वंशावलियों* की व्यवस्था केवल शासक वंश तथा उनके उच्च पदस्थ अधिकारियों, विशेषकर ब्राह्मणों तक सीमित थी। इस प्रकार यह एक अभिजात्य तथा उच्च जातीय परम्परा थी। अपने *गज़ेटियर* में एटकिंसन ने ऐसी वंशावलियों को संकलित किया था जो मध्य हिमालय के शासक परिवारों से संबंधित थीं। कुमाऊँ के चंद तथा गढ़वाल के पंवार इस क्षेत्र के दो प्रमुख सत्ताधारी परिवार थे। अन्य स्थानीय कुलीन परिवारों और बड़े ज़मींदारों की वंशावलियाँ भी उन्होंने संकलित की थीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वंशावलियाँ, मूलतः, दो प्रकार की थीं। एक का संबंध शासक परिवार से था और दूसरे का उच्च पदस्थ ब्राह्मणों के कुल से।

10.4.1 शासक परिवार की वंशावलियाँ

एटकिंसन ने तीन विभिन्न स्रोतों से चंद परिवार की तीन वंशावलियाँ (एटकिंसन 1972ः 501-02, 510) एकत्र की थीं, इनमें से एक स्रोत स्थानीय जानकार रुद्रदत्त पंत था, दूसरा एक ब्रिटिश अधिकारी था और तीसरा चंद वंश का अंतिम राजा था। ये वंशावलियाँ, इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक नृशास्त्रियों और इतिहासकारों की सामान्य जानकारी में थीं। एटकिंसन ने इन वंशावलियों का इस्तेमाल अल्मोड़ा के चंद शासकों के अधीन इस क्षेत्र के ऐतिहासिक विकासक्रम पर चर्चा करते हुए किया था। उसने सामान्य तौर पर इन वंशावलियों में किए गए मैदानी क्षेत्रों से आप्रवासन के दावे को स्वीकार कर लिया था। यद्यपि उस समय उसे उपलब्ध कुछ अभिलेखों के आधार पर उसने इस वंश के संस्थापक के रूप में सोमचंद के अस्तित्व पर सवाल उठाया था। गट्ज़ ने एटकिंसन द्वारा इन वंशावलियों और स्थानीय परम्पराओं के आधार पर निर्धारित किए गए चंद वंश के कालानुक्रम को प्रश्नांकित किया (गट्ज़ 1969ः 167-81)। इस क्षेत्र में मंदिर वास्तुकला के विकास पर किए गए अपने कार्य के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि चंद वंश को ग्यारहवीं शताब्दी सी ई से पूर्व नहीं रखा जा सकता है। लेकिन इन सूचियों में पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद गद्दी पर बैठे शासकों के नामों को अन्य स्रोतों जैसे अभिलेखों से सत्यापित किया जा सकता है ।

इन वंशावलियों को उपमहाद्वीप में प्रचलित व्यापक वंशावलीय परम्परा के अंतर्गत कोटिबद्ध किया जा सकता है। व्हिट्ज़ेल ने राजवंशावलियों की एक विशेष परम्परा की ओर हमारा ध्यान खींचा है जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नेपाल की *गोपालराजवंशावली* है, इसी श्रेणी में उसने मध्य हिमालय क्षेत्र के कुमाऊँ और गढ़वाल क्षेत्र की और हिमाचल के चंबा की वंशावलियों को रखा है। व्हिट्ज़ेल ने अपने विश्लेषण में यह भी संकेत किया है कि इस तरह की वंशावलियों का इस्तेमाल 12वीं शताब्दी के कश्मीरी लेखक कल्हण द्वारा अपने ग्रंथ *राजतरंगिणी* में किया गया है (व्हिट्ज़ेल 1990ः 6, 56)।

10.4.2 विशिष्ट ब्राह्मण वंशों की वंशावलियाँ

ये वंशावलियाँ विशिष्ट ब्राह्मण कुलीनों से संबंधित हैं, ये कुल राजपरिवार के दरबार से जुड़े हुए थे और मध्यकालीन कुमाऊँनी समाज में शक्तिशाली पदों पर क़ाबिज़ थे। इन दस्तावेज़ों को गाँव स्तर पर रचा तथा उन्हें परिवर्धित (updated) किया जाता था और अधिकांशतः एक ही मूल-पुरुष से उत्पन्न विस्तृत कुटुम्ब की शाखाओं तथा उपशाखाओं को इसमें शामिल किया जाता था। इन वंश अनुक्रमों को दर्ज करने के लिए कोई विशेष वर्ग नहीं होता था बल्कि उस संबंधित कुल के सदस्यों द्वारा ही किया जाता था। इन वंशावलियों में से दो को अठारहवीं शताब्दी में रचित दो साहित्यिक भाष्यों में समाहित किया गया है। इसमें से एक का संबंध *सिलवाल जोशियों* से है, जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में त्रिलोचन द्वारा लिखित *भक्तिप्रबंधकाव्यम* में संकलित पांडुलिपि रूप में है। इसमें इस वंश के संस्थापक लंकाराजा से लेकर 22 पीढ़ियों को दर्ज़ किया गया है। इस *वंशावली* के अनुसार, लंकाराजा सोमचंद के शासनकाल में कुमाऊँ आया और उसके पुत्र को चंद परिवार के *पुरोहित* के रूप में नियुक्त किया गया था। अन्य वंशावली का संबंध सिमल्टिया पांडे के कुल से है। इस *वंशावली* की रचना पद्मदेव द्वारा *जगच्चन्द्रिका* (*रघुवंशम्* पर एक भाष्य) के एक हिस्से के रूप में, मध्य अठारहवीं शताब्दी में की गई थी। यह वंश के संस्थापक हरिहर, जो वंशावली के अनुसार सोमचंद के साथ आया था, से लेकर 25 पीढ़ियों को दर्ज़ करती है। इन वंशावलियों के अतिरिक्त, ड्योलिया पांडे, गर्ग-गोत्रीय जोशी और उपमन्यु गोत्रीय जोशियों की वंशावलियाँ हैं जिनका एम. पी. जोशी द्वारा विश्लेषण और अवलोकन किया गया है। उनका कथन है कि इनकी रचना और संकलन बाद के समय में हुआ है, इनमें से सभी यह दावा करती हैं कि उनका कुल-विशेष चंद्र/चंद राज-परिवार के संस्थापक सोमचंद के साथ आया था। ये वंशावलियाँ दो विषयों को लेकर बिल्कुल स्पष्ट हैं:

1) ये वंशावलियाँ जिस वंश से संबंध रखती हैं उसे राज-परिवार के मिथकीय संस्थापक के साथ जोड़ती हैं तथा इस क्षेत्र में उस राजपरिवार की स्थापना के समय अपने वंश के पूर्वज द्वारा धारण किए गए मूल पद का उल्लेख करती हैं।

2) उन वंशों का उच्च आनुष्ठानिक और सामाजिक स्थान जिनसे इन वंशावलियों का संबंध है।

इन वंशावलियों में कुछ विसंगतियाँ पाई जाती हैं:

1) इन सभी वंशावलियों में वर्तमान समय तक दी गई पीढ़ियों की संख्या में अंतर नज़र आता है। अगर इन वंशों के पूर्वज एक ही समय पर आए हों तो इनके वंश-क्रम में पीढ़ियों की संख्या भी समानांतर होनी चाहिए थी, साथ ही इन वंशावलियों को चंद/चंद्र राजाओं की वंशावली के साथ तुलना करने पर गुज़री हुई पीढ़ियों की संख्या में विसंगति नज़र आती है।

2) विभिन्न परिवारों द्वारा *गुरु, पुरोहित* और *दीवान*, इत्यादि के रूप में चंद्र वंश की स्थापना की शुरुआत से ही वंशानुगत पद धारण करने का दावा कई बार चंद्र वंश के उपलब्ध ताम्रपत्रों से समर्थन नहीं पाता है।

एम. पी. जोशी ने इन मिथकीय परिकल्पनाओं की व्याख्या अल्मोड़ा में 1743 सी ई में हुए रोहिल्लाओं के आक्रमण के बाद दरबार में हुए षड्यंत्रकारी घटनाक्रमों के रूप में की है जब कुछ ब्राह्मण वंशों ने शक्तिशाली पदों को ग़ैर-ब्राह्मण अधिकारियों से हड़पने का प्रयास किया था और बाद के समय में गोरखा तथा औपनिवेशिक शासन के दौरान सत्ता की संरचना ने वैधता हेतु इन विचारों को एक प्रमुख युक्ति बना दिया था (जोशी 1990: 219)।

कुमाऊँ क्षेत्र से कुछ अन्य वंशावलियाँ प्राप्त होती हैं, किंतु इनका संबंध उन क्षेत्रों से नहीं है जहाँ राजनीतिक सत्ता स्थापित थी। इन वंशावलियों में हम मैदानी क्षेत्रों से आप्रवासन का कोई भी ठोस प्रमाण नहीं पाते हैं, ना ही राजवंश की उत्पत्ति के मिथक के संबंध में ही कोई उल्लेख है, लेकिन इन वंशावलियों में पूर्व (अर्थात नेपाल) की ओर जाने के संदर्भ लगातार मिलते हैं। इनमें से कुछ में यह भी उल्लेख है कि कब किस वंश के किसी पूर्वज ने प्रथम बार राज-परिवार के सदस्य के साथ भोजन किया था, जैसा कि इसे एक विशेष अवसर माना जाता था, प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने का अवसर। इन वंशावलियों में स्त्रियों का कोई भी विशिष्ट स्थान नहीं है, केवल वंश विशेष के पुरुषों की पत्नियों के रूप में उनका उल्लेख *जेठी* (ज्येष्ठ पत्नी), *मंजरी* (बीच की पत्नी) और *सुंदरी* (कनिष्ठ पत्नी) के

रूप में किया गया है, किंतु कोई भी नाम नहीं दिए गए हैं। कभी-कभी होने वाले कौटुंबिक व्यभिचार का उल्लेख मिलता है, जिसका परिणाम सामाजिक बहिष्कार के रूप में होता था।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कम से कम 18वीं शताब्दी से यह वंशावली परम्पराएँ अस्तित्व में थीं। यद्यपि इनमें ऐसे अतीत को प्रस्तुत किया गया था जिसका संबंध बहुत पहले के समय से था। इन वंशावलियों को निरंतर अद्यतन (update) किया जाता था और इसने इनमें बदलाव किए जाने के प्रति संवेदनशील बना दिया था। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि राज-परिवार के परिप्रेक्ष्य में इन ब्राह्मणों का सामाजिक-राजनीतिक दर्ज़ा इन वंशावलियों की पुनर्निर्मिति तथा इन्हें नए स्वरूप को परिभाषित करने वाला एक प्रमुख कारक था।

10.5 *तीर्थ* वंशावलियाँ

तीर्थ वंशावलियों को भारत के विभिन्न तीर्थ-स्थानों में ब्राह्मण *पंडों* द्वारा दर्ज और व्यवस्थित किया जाता है। हरिद्वार कुरुक्षेत्र और पुरी ऐसे विख्यात केंद्र है जहाँ हमें इस तरह की परम्परा देखने को मिलती है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में तीर्थ यात्रा हमेशा से एक सारभूत धार्मिक कर्तव्य रहा है। मंदिरों, नदियों, पर्वतों, सागरों के आस-पास केंद्रित विभिन्न स्थान हैं और इन स्थानों में अनुष्ठानों का निष्पादन *तीर्थ पुरोहितों* द्वारा किया जाता है (चक्रवर्ती 2015)। इनमें से कुछ स्थानों में तीर्थ यात्रियों के संबंध में विवरण को दर्ज करने की परम्परा है, जब वे यहाँ की यात्रा पर आते हैं। दिलचस्प रूप से इन दस्तावेज़ों को विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है और सदियों से इन्हें व्यवस्थित रूप से दर्ज किया जा रहा है और अभी भी यह एक जीवित परम्परा के रूप में विद्यमान है। सदियों से इस परम्परा का जीवित रहना ही इस परम्परा के गहरे महत्व की ओर संकेत करता है। इन तीर्थ स्थलों के दस्तावेज़ों में यात्रियों की कई पीढ़ियों की जानकारी उनके कुल के अनुसार लिखी जाती है और अक्सर ही किसी विशेष वंश या परिवार के दस्तावेज़ों को एक निश्चित पुरोहित द्वारा लिखा जाता है और उसकी मृत्यु के बाद इन दस्तावेज़ों को उसके वंशज सँभाल कर रखते हैं, पुरोहितों और तीर्थयात्रियों की उत्तरोत्तर पीढ़ियों के बीच निरंतर होने वाली यह अंतःक्रिया की प्रक्रिया एक विशेष प्रकार के धार्मिक तथा आनुष्ठानिक संबंध के माध्यम से होती है जो भारतीय समाज में अस्तित्व में रही *जजमानी* व्यवस्था के समान है। यह पीढ़ीगत अंतःक्रिया दस्तावेज़ों को अद्यतन बनाए रखती है। समय के गुज़रने के साथ, समय-समय पर जानकारियों को अद्यतन बनाए जाने के कारण यह एक वंशावली दस्तावेज़ का रूप ले लेता है। दूसरे शब्दों में, कोई भी इन दस्तावेज़ों के माध्यम से किसी विशेष परिवार के लिए एक वंश-वृक्ष या उसकी पीढ़ियों की शाखाओं को चिह्नित कर सकता है।

जगन्नाथ मंदिर में इस परम्परा को ***वारजा*** या ***वारिजा*** कहते हैं। *वारजा* की व्यवस्था मंदिर की सेवाओं का ही एक हिस्सा है और *पंडों* के एक समूह, विशेषकर *प्रतिहारी पंडों*, को यह कार्य सौंपा गया है, इन्हें *जात्री* पंडा भी कहा जाता है क्योंकि वह तीर्थयात्रियों (*जात्रियों*) को सेवा प्रदान करते हैं। इन *पंडों* को पुराने समय में ताम्रपत्र भी प्रदान किए गए थे जिनमें उन्हें उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों के विशेष शासक परिवारों का कुल पुरोहित घोषित किया गया है। हरिद्वार में इन दस्तावेज़ों को *बंशाबली* कहा जाता है और इसे दो प्रकार के *पंडों – तीर्थ पुरोहित* और *महाब्राह्मण* – के द्वारा व्यवस्थित रखा जाता है। इनमें से पहले प्रकार के पुरोहित उच्च जातियों के दस्तावेज़ों को व्यवस्थित रखते हैं, वही दूसरे पुरोहित अन्य जातियों की जानकारी को दर्ज करते हैं। इन *बंशाबलियों* को दो पृथक पंजियों में दर्ज किया जाता है, इनमें से एक को *चोपता खाता* और दूसरे को *बही-खाता* कहा जाता है। *चोपता खाता* में तीर्थ यात्री की प्रारंभिक जानकारी जैसे यात्री का नाम, उसका गाँव, उसका गोत्र, पिता का नाम, पितामह का नाम, इत्यादि दर्ज किया जाता है। वहीं *बही-खातों* में इन जानकारियों को *वर्ण* क्रम के अनुसार सूचीबद्ध किया जाता है। कामाख्या मंदिर, असम में इन्हें मंदिर के ऐसे सेवादारों द्वारा व्यवस्थित किया जाता है, जिन्हें *पंडा* या *बढ़देवड़ी* और *नानांदेवड़ी* के नाम से भी जाना जाता है। इन बहियों को स्थानीय स्तर पर *जात्रिक खाता* के रूप में भी जाना जाता है। ये ब्राह्मण ये दावा करते हैं कि इन्हें अहोम राजा इस पवित्र तीर्थ में कर्मकांडों के संपादन के लिए कन्नौज, मिथिला और बंगाल से लाए थे तथा यहाँ बसने के लिए उन्हें भूमियाँ प्रदान की गई थीं।

बसोली कलम की चित्रकला, विशेष रूप से गुलेर के नैनसुख के चित्रों, पर अपने कार्य में गोस्वामी ने हरिद्वार तथा कुरुक्षेत्र में उपलब्ध वंशावली *बहियों* का इस्तेमाल किया है। गोस्वामी ने भारत के

विभिन्न तीर्थस्थानों में जाकर गुलेर, नूरपुर, चंबा तथा काँगड़ा के परिवारों के उपलब्ध ब्योरों की जाँच-पड़ताल की और इस प्रकार वे सौभाग्यशाली थे कि उन्हें महान् *पहाड़ी* चित्रकार नैनसुख के परिवार के विवरण उपलब्ध हुए (गोस्वामी 2011: 11-12)। लेकिन, इन दस्तावेज़ों का ऐतिहासिक शोध के क्षेत्र में अधिक प्रयोग नहीं किया गया है। सम्भवतः इसका कारण इनका वर्तमान में भी व्यावहारिक प्रयोग में बने रहना है।

यह देखा जा सकता है कि ये परम्पराएँ एक प्रकार की ऐतिहासिक चेतना की ओर संकेत करती हैं, जिसे इन बहियों के माध्यम से व्यक्त किया जाता था, जैसा कि यहाँ आने वाले यात्री अपने उन पूर्वजों से संबंध स्थापित करने की कोशिश करते थे जिन्होंने उसी तीर्थ में आकर इसी तरह पवित्र धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह किया था। ये दस्तावेज़ उन्हें बोध कराते हैं कि उनका और उनके वंश का अस्तित्व केवल उस वर्तमान से ही नहीं बंधा है जिसमें वे विद्यमान हैं बल्कि उनके पूर्वजों की एक ऐसी परम्परा रही है जो उनसे पूर्व जीवित रहे हैं तथा इन तीर्थों में आकर अपने धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह करते रहे हैं। लेकिन, इन दस्तावेज़ों में अधिकांशतः तिथियाँ नहीं दर्ज की गई हैं। और हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि केवल 18वीं शताब्दी से ही ये दस्तावेज़ अधिक विश्वसनीय हैं। इन दस्तावेज़ों की नक़ल उतारने और प्रतिलिपि बनाने ने उन्हीं समस्याओं को पैदा किया जिनका हमने *कुलजियों* के संदर्भ में **उपभाग 10.3.2** में विवेचन किया है ।

10.6 पारिवारिक दस्तावेज़

यद्यपि ऊपर हमने जिन दस्तावेज़ों या परंपराओं की बात की है, वे स्वयं में किसी परिवार या वंश को केंद्र में रखकर ही गढ़े गए हैं या उनमें वंश परम्परा का केंद्रीय महत्व है, इस तरह से वे भी कुटुम्ब-आधारित इतिहास ही हैं। लेकिन, हम यहाँ कुछ अलग तरह के लिखित दस्तावेज़ों की चर्चा करेंगे जो किसी कुटुम्ब विशेष, जैसे व्यापारिक या बैंकिंग घराने की गतिविधियों से सृजित होते हैं या ऐसे परिवारों के किसी सदस्य की आत्मकथा या अन्य प्रकार के लेखनों से अस्तित्व में आते हैं। यहाँ उदाहरण के तौर पर हरि-भक्ति परिवार के दस्तावेज़ों की चर्चा की जा रही है, ये दस्तावेज़ वर्तमान में एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा के इतिहास विभाग में संकलित हैं। ये उन दस्तावेज़ों से या परंपराओं, जिनकी ऊपर चर्चा की गई है, से इस प्रकार भिन्न हैं कि ये किसी कुटुम्ब की उत्पत्ति या अपनी समकालीन राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ किसी वंश की प्रतिष्ठा या दर्जे को लेकर किसी अतीत का निरूपण नहीं करते हैं बल्कि ये मुख्यतः उन परिवारों की व्यापारिक गतिविधियों तथा इस संबंध में राजसत्ता के साथ उनके संबंधों की ओर संकेत करते हैं। ऐसा ही एक गुजराती बैंकिंग घराना था हरि-भक्ति कुटुम्ब का। इन्होंने पेशवा के राजनीतिक केंद्र पूना में अपना दफ़्तर खोला। इनके दस्तावेज़ यह जानने में सहायक हैं कि किस तरह बड़े व्यापारी मराठा राज्य में कई बड़ी भूमिकाओं का निर्वाह करते थे। यद्यपि इनके शुरुआती इतिहास के विषय में तो बहुत ज्ञात नहीं है किंतु यह पता चलता है कि बड़ौदा के निकट के गाँव से संबंध रखने वाले दो भाइयों, हरि तथा भक्ति ने, गायकवाड़ों के राज्य में, मध्य अठारहवीं शताब्दी में वित्तीय भूमिका निभाने में केंद्रीय भूमिका पा ली थी और पानीपत के युद्ध (1761) के बाद उन्होंने अपनी शाखा पूना में भी खोली। और इस तरह ये पेशवा के *पोतेदारों* की सूची में भी शामिल हो गए।

इन पांडुलिपियों से अठारहवीं शताब्दी के प्रथम उत्तरार्द्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हमें पश्चिमी भारत के बड़े हिस्से में जारी व्यापारिक तथा वाणिज्यिक गतिविधियों, जैसे महाजनी, देशज बैंकिंग प्रणाली, मुद्रा प्रणाली, इत्यादि के संबंध में जानकारी मिलती है। ये मुख्यतः गुजराती तथा मराठी भाषा में तथा मोढ़ी लिपि में हैं। इस परिवार ने राज्य के साथ अपने संबंधों तथा अपने निजी मामलों को लिखित रूप में दस्तावेजबद्ध करने का एक विशेष तरीका अपनाया। इन दस्तावेज़ों में शामिल हैं; *बही* या *वही*, *चिट्ठी*, *हुंडी*, जमा-खर्च तथा अन्य इसी प्रकार के दस्तावेज़, जो न केवल गायकवाड़ राज्य के साथ वित्तीय संबंधों पर रोशनी डालते हैं, बल्कि *बहियों* के बाद के हिस्से में बैंकरों, महाजनों तथा व्यापारियों की बड़ौदा राज्य के साथ ही अहमदाबाद, जम्बूसर, नवसारी, भड़ुच तथा दभोई में गतिविधियों को प्रकाश में लाते हैं। पश्चिमी भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रभावी स्थिति हासिल कर लेने के बाद इस घराने ने अपने वाणिज्यिक हितों को कम्पनी के साथ जोड़ लिया।

इसी तरह के दस्तावेज़ों का इस्तेमाल करके जे.एच. लिटिल ने 1920-21 में बंगाल के जगत सेठ के परिवार का इतिहास लिखा था। उसने उल्लेख किया है कि अपने अध्ययन में उन्होंने इंडिया ऑफ़िस रेकॉर्ड, *सियार-उल मुतखरीम, रियाज-उस सलातीन* तथा जगत सेठ के पारिवारिक दस्तावेज़ों का प्रयोग किया है। साथ ही जगत सेठ परिवार में प्रचलित अतीत-संबंधी परम्पराओं का भी। यह इतिहास मुख्यतः 1717 से 1767 की गतिविधियों पर केंद्रित है। लिटिल ने इसे इस बैंकिंग परिवार के इतिहास के रूप में संकलित किया है, किंतु यह भी बंगाल में राजनीतिक तथा वाणिज्यिक शक्तियों के परस्पर संबंध को महत्वपूर्ण ढंग से सामने लाता है। हीरानंद साहू ने इस बैंकिंग घराने की स्थापना की थी, वह 1652 में मारवाड़ से पटना आया और वहाँ एक *कोठी* स्थापित कर कम्पनी के कर्मचारियों को शोरा खरीदने के लिए उधार देने लगा, बाद में उसके सात बेटों में सबसे बड़ा बेटा मुग़ल *सूबे* बंगाल के केंद्र ढाका चला आया तथा वहाँ स्वयं को स्थापित किया। इस तरह बंगाल के इतिहास में यह घराना अठारहवीं शताब्दी में काफ़ी महत्वपूर्ण हो गया था, जिसके बारे में सुविख्यात ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है, इस तरह के घरानों में अपनी वाणिज्यिक गतिविधियों के संबंध में दस्तावेज़ों को सुरक्षित रखने की परम्परा रही थी। इस तरह के दस्तावेज़ हमें व्यापारिक गतिविधियों के साथ ही इन परिवारों के राजसत्ता के साथ संबंधों को तो बताते ही हैं, साथ ही यह भी पता चलता है कि किस तरह इन गतिविधियों के बीच कुछ परिवारों का समय के साथ-साथ विकास हुआ और कैसे पूर्व-आधुनिक भारत में व्यापारिक-वाणिज्यिक संस्थानों के केंद्र में वंश या परिवार का महत्व बना हुआ था।

बोध प्रश्न-3

1) कुमाऊँ क्षेत्र में किस प्रकार की वंशावली परम्पराएँ पायी जाती हैं?

....

....

....

2) कुमाऊँनी *वंशावलियों* की संरचना की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

3) *तीर्थ* वंशावलियों की परम्परा किन स्थानों में पायी जाती हैं?

....

....

....

4) विभिन्न स्थानों में *तीर्थ* वंशावलियों को किस प्रकार व्यवस्थित रखा जाता है, इसका विवेचन कीजिए।

....

....

....

5) हरी-भक्ति दस्तावेज़ों की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

6) कुछ व्यावसायिक परिवारों ने विशेष प्रकार के दस्तावेज़ों की रचना क्यों की?

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

10.7 सारांश

इस इकाई में हमने विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक परंपराओं के बारे में अध्ययन किया, जिनके केंद्र में वंश या कुल का अस्तित्व था। ये परम्पराएँ किसी वंश या जाति समूह को आधार रूप में स्वीकारते हुए, अतीत के संबंध में विचार करती हैं। चूँकि अधिकांश परम्पराएँ राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक रूप से शक्तिशाली सामाजिक समूहों से संबंध रखती हैं, इनकी अतीत की स्मृति सीमित तथा संकुचित होती है तथा अपनी वर्तमान परिस्थितियों को प्रतिष्ठित करने पर ध्यान देती हैं। एक ओर जहाँ राजपूतों पर केंद्रित *भाट/चारणों* की *वंशावली* परम्परा है, तो बंगाल के कुलीनों को महत्व देने वाली *कुलग्रंथों* की परम्परा है, इसी तरह कुमाऊँ की *वंशावली* परम्परा है जो वहाँ के स्थानीय समाज के बीच कुछ विशेष ब्राह्मण परिवारों के दर्जे को ऊँचा घोषित करने का प्रयास करती है।

इनसे कुछ भिन्न, किंतु वंश को केंद्र में रखते हुए ही, *तीर्थ* के *पंडों* द्वारा अपनी *बहियों* में दर्ज वंश-क्रम भी हैं, यद्यपि इनका सरोकार अपने *यजमानों* का लेखा-जोखा रखना तथा *पंडों* के रूप में अपनी प्रामाणिकता साबित करना है। इसके अलावा हमने व्यापारिक घरानों द्वारा सृजित किए गए दस्तावेज़ों की चर्चा भी की है, जो इन खानदानों तथा इनके व्यापारिक-राजनीतिक संबंधों के उभरने पर विशेष प्रकाश डालती हैं।

10.8 शब्दावली

चारण — *चारण* राजपूत समाज के गाथा-कार और कवि थे, जिनका अपने संरक्षक राजपूत वंश से आनुवांशिक संबंध होता था। *चारण* विशेष अवसरों पर अपने संरक्षक परिवारों द्वारा बुलाए जाने पर गीतों तथा गाथाओं का पाठ करते थे। इन आख्यानात्मक गीतों को *बात* या *वात* या *वातम* कहते थे

भाट — ये विशेषज्ञ *पीढ़ियावलियों* (पीढ़ियों की श्रृंखला) की रचना करते थे। *भाट* (संस्कृत *भट्ट* से) शब्द का अर्थ मूल रूप से 'प्रार्थनाओं, प्रशस्तियों और मंगलाचरण के जानकार से होता था' किंतु यह बाद में वंशावलियों के विशिष्ट ज्ञान रखने वालों का संकेत करने लगा। प्रत्येक जाति का अपना *भाट* था, जिन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता था, जो इस पर आधारित होता था कि वे किस जाति की सेवा में लगे हुए हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों को सेवा देने वाले *भाटों* को *वर्वा* कहा जाता था। इन वंशावलियों को विस्तृत *बहियों* में लिखा जाता था, और ये *भाटों* की ही संपत्ति समझी जाती थीं

वहीवांचा बारोत — मध्य तथा उत्तर गुजरात में *भाटों* के समूह से वंशावली रचने वालों के एक विशेष समुदाय का उदय हुआ जिसे *वहीवांचा बारोत* के नाम से जाना जाता था। *वहीवांचा बारोत* लिखित रूप में अपने दस्तावेज़ों को रखते थे। शाब्दिक रूप से *वहीवांचा* का तात्पर्य *बही/वही* को बांचने या पढ़ने वालों से है

कुलग्रंथ/कुलजी — बंगाल से संबंध रखने वाली परम्परागत वंशावली-सामग्री को *कुलग्रंथ, कुलपंजिका* या *कुलजी* के रूप में जाना जाता है। *कुल* शब्द परिवार या वंश अर्थात् विस्तारित कुटुंब का संकेत करता है, *ग्रंथ* का मतलब पुस्तक से है, *पंजी* या *पंजिका* का प्रयोग बहियों के लिए होता है। अतः ये इस तरह की पुस्तिकाएँ थीं जिनमें *कुलों* या वंशों के अनुक्रम लिखे जाते थे। इन दस्तावेज़ों को वैवाहिक रिश्ते तय करने वाले *घटकों* द्वारा तैयार, संकलित तथा व्यवस्थित रखा जाता था

वंशावली — अधिकांश वंशानुक्रमों को दर्ज करनी वाली परम्पराओं को *वंशावलियों* के रूप में जाना जाता है। राजस्थान में इन्हें परिवारों द्वारा स्वयं रखा

जाता था और ये उन्हीं की सम्पत्ति मानी जाती थीं। पारंपरिक रूप से इन्हें उन जानकारों द्वारा दर्ज किया जाता था जो घरों पर आकर इनमें नई प्रविष्टियाँ करते थे। इस तरह की *वंशावलियाँ* कुछ विशेष परिवारों के पास ही सुरक्षित पाई गई हैं, जैसे स्थानीय शासक या महत्वपूर्ण *ज़मींदारों* के परिवार। कुमाऊँ में भी ऐसी *वंशावलियों* को उन्हीं वंशों के ब्राह्मणों द्वारा व्यवस्थित किया जाता था, जिनसे यह संबंधित थीं। हरिद्वार की *तीर्थ* वंशावलियों को भी *वंशावली* या *वंशावलियों* की *बही* कहा जाता है

वारजा जगन्नाथ मंदिर में मौजूद वंशावली दस्तावेज़ों को *वारजा* या *वारिजा* कहा जाता था। *वारजा* की व्यवस्था मंदिर की सेवाओं का ही एक हिस्सा है और *पंडों* के एक समूह, विशेषकर *प्रतिहारी पंडों*, को यह कार्य सौंपा गया है, इन्हें *जात्री पंडा* भी कहा जाता है

हरि-भक्ति दस्तावेज़ ये दस्तावेज़ हरि-भक्ति परिवार, बड़ौदा राज्य का एक प्रमुख व्यावसायिक परिवार, से संबंध रखते हैं। इनसे हमें अठारहवीं शताब्दी के प्रथम उत्तरार्द्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक पश्चिमी भारत के बड़े हिस्से में जारी व्यापारिक तथा वाणिज्यिक गतिविधियों, जैसे महाजनी, देशज बैंकिंग प्रणाली, मुद्रा प्रणाली, इत्यादि के संबंध में जानकारी मिलती है

10.9 बोध प्रश्नों का उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 10.2
2) इन परंपराओं के क्रमिक विकास तथा मध्यकालीन समाज में इनकी भूमिका की चर्चा कीजिए। देखें भाग 10.2
3) देखें भाग 10.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 10.3
2) देखें उप-भाग 10.3.1
3) देखें उप-भाग 10.3.1
4) देखें उप-भाग 10.3.2

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 10.4
2) देखें उप-भाग 10.4.1, 10.4.2
3) देखें भाग 10.5
4) देखें भाग 10.6
5) देखें उप-भाग 10.6

10.10 संदर्भ ग्रंथ

एटकिंसन, ई.टी., (पुनःमुद्रित 1972) *द हिमालयन गज़ेटियर*, भाग 2, खंड 2 (दिल्लीः काज़्मो पब्लिकेशन).

चक्रबर्ती, ककाली, (संपा.) (2015) *जीनीयलॉजिकल रेकड़र्ज़ एंड ट्रेडिशनल नॉलेज सिस्टम* (नई दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस).

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

चटर्जी, कुमकुम, 2005) 'बंगाल कम्यूनिटीज़, किंग्स एंड क्रानिकल्ज़ः द कुलग्रंथास ऑफ़ बेंगाल', *स्टडीज़ इन हिस्ट्री;* भाग 21ः 173.

गट्ज़, एच., (1969) 'द क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ द चंद डायनस्टी एंड द मेडीवल मोनुमेंट्स ऑफ़ कुमाऊँ', *स्टडीज़ इन द हिस्ट्री एंड आर्ट ऑफ़ कश्मीर एंड द इंडियन हिमालया,* पृ. 167-81 (वीसबाडनः ऑटो हारसोवित्ज़).

गोस्वामी, बी. एन., (2011) *नैनसुख ऑफ़ गुलेरः अ ग्रेट इंडियन पेंटर फ़्रॉम अ हिल स्टेट* (नई दिल्लीः नियोगी बुक्स).

गोस्वामी, बी. एन., (1964) 'पहाड़ी पेंटिंगः द फ़ैमिली एज़ द बेसिस ऑफ़ स्टाइल', *मार्ग,* भाग XXI, नं. 4.

गुहा, सुमित, (2019) *हिस्ट्री एंड कलेक्टिव मेमरी इन साउथ एशिया 1200-2000* (सीऐटलः यूनिवर्सिटी ऑफ़ वॉशिंगटन प्रेस).

जोशी, एम. पी., (1990) 'कुमाऊनी वंशावलिज़ः मिथ एंड रीऐलिटी', *हिमालयन पास्ट एंड प्रेजेंट,* (संपा.) जोशी, एम. पी.; ऐलन सी. फ़ैंगर, चार्ल्स डब्ल्यू. ब्राउन (अल्मोड़ाः अल्मोड़ा बुक डिपो).

लिटल, जे. एच., (1967 [1920]) *द हाउस ऑफ़ जगत सेठ* (कलकत्ताः कलकत्ता हिस्टोरिकल सोसायटी).

नॉर्ग्रेन, केनेथ, (2019) 'बाउंड्रीज ऑफ़ हिस्टोरिकल कॉन्शिएसनेसः अ वेस्टर्न कल्चरल अचीव्मेंट ऑर ऐन ऐन्थ्रॉपलॉजिकल यूनिवर्सल?', *जर्नल ऑफ़ करिकुलम स्टडीज़,* भाग 51, नं. 6, पृ. 779-797.

शाह, ए. एम. एवं आर. जी. श्रॉफ़, (1984) 'ट्रेडिशनल जीनीआलजिस्टः बारोत ऑफ़ गुजरात', ऐलन बेर्नार्ड और एंथनी गुड्ज़, (संपा.) *रीसर्च प्रैक्टिसेज़ इन द स्टडी ऑफ़ किन्शिप, रीसर्च मेथॉड्ज़ इन सोशल ऐन्थ्रॉपॉलॉजी,* भाग 2 (लंदनः एकेडमिक प्रेस).

व्हिट्जेल, माइकेल, (1990) 'ऑन इंडियन हिस्टोरिकल राइटिंगः द रोल ऑफ़ वंशावलीज़', *जर्नल ऑफ़ द जापानीज़ एसोसिएशन फ़ॉर द साउथ एशियन स्टडीज़.*

त्रिपाठी, द्विजेंद्र, (2004) *द आक्स्फ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन बिज़नेस* (नई दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

ज़िग्लर, नॉर्मन, पी., (1976) 'मारवाड़ी हिस्टोरिकल क्रानिकल्ज़ः सोर्सेज़ फ़ॉर द सोशल एंड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ राजस्थान', *द इंडियन एकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* 13(2)ः 219-250.

10.11 शैक्षणिक वीडियो

हरिद्वार स्टोरी

https://www.youtube.com/watch?v=2h554UDi5Dc